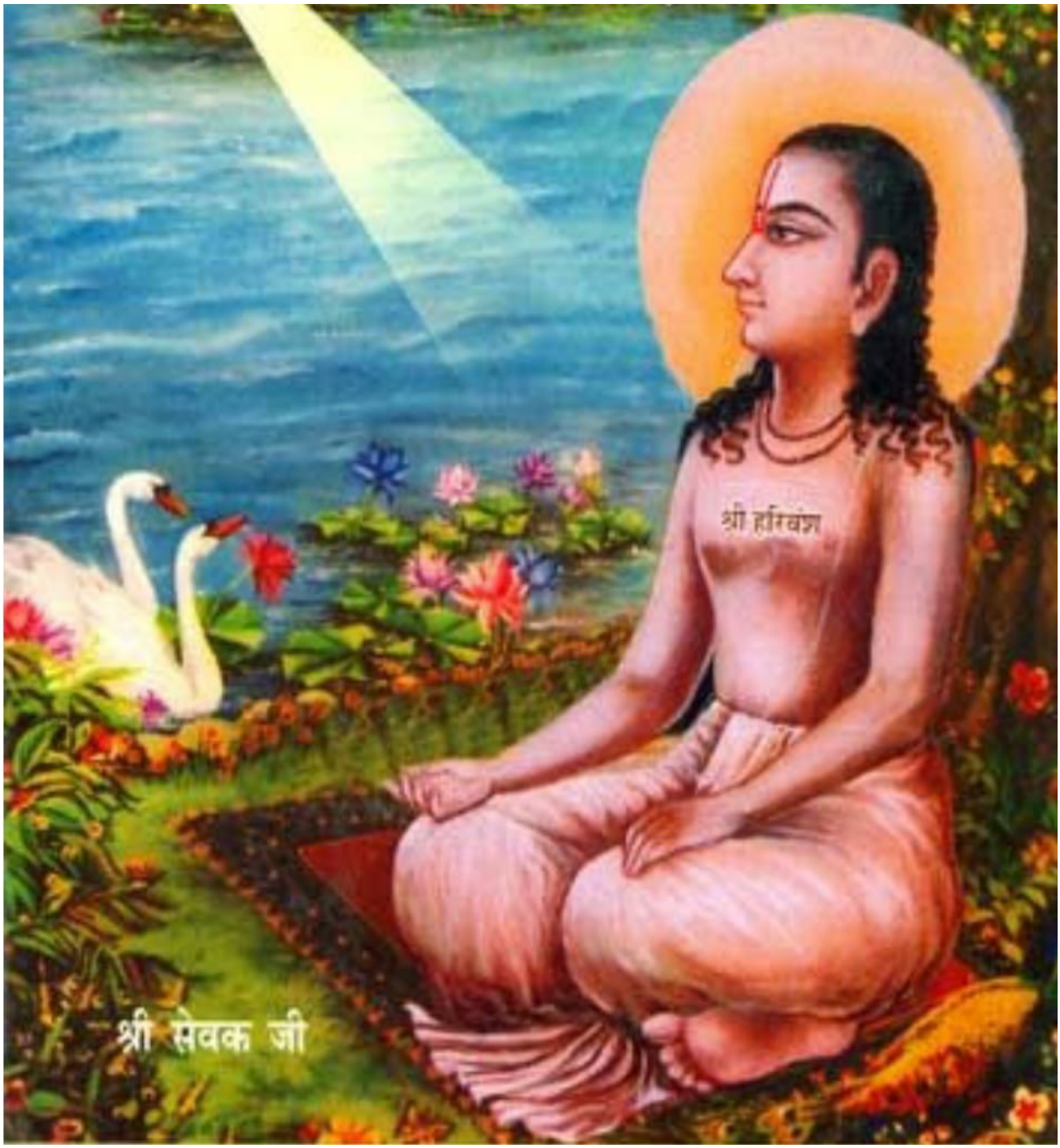

{श्रीहित हरिवंशचन्द्रो जयति}

अतिसै गिरा गँभीर भाव-दह पैठि न आवै।

नाम रुप रस वेहद कोऊ पार न पावै।।

अक्षर अर्थ समुझिवैं बहु कोविंद जन दहलैं।

पुनि ए रसिक सुजान रिझि कुंजर ज्यौं चहलैं।।

निज वेद हृदौ ज्यौं प्रभु लखिहिं अरु सब थकित विचार करि।

सेवक सम सेवक न जग हरिवंश-रूप दरसे जु हरि।।

दर्शक लोग सुरम्य वाटिकाओं के विकसित पुष्पों का दर्शन कर प्रसन्न हो उठते हैं। उन पुष्पों की श्री संपत्ति इसीलिए है कि वह दर्शक-वर्गों को आनंदित करें। यह दूसरी बात है कि सब पुष्प सुगंधित, सुकोमल और सुंदर हों पर व सभी अपने अपने क्षेत्र में उपयोगी अवश्य हैं।

कभी कभी इसके विपरिति भी एक स्थिति पाई जाती जाती है। गहन अरण्य में कितने फूल नहीं खिलते, पर कौन उन्हें देखने जाता है? किसे पता है कब और कहाँ कौनसा फूल खिल गया और मुरझा गया? उसका जीवन कितने दिनों का कितने क्षणों का बीत गया? उसके आगत यौवन, प्राप्त अस्तित्व व्यक्तित्व का किसी को पता तक चल पाया। चाहे भले ही उसकी श्री ने समस्त वन को सौरभ और सुषमा प्रदान की हो, उसका दान इतना गोप्य होता है कि उसको ओर उसके दान को सम्य नागरिक जान-पहचान तक नहीं पाते।न जानें, किन्तु उसका भोग अवश्य करते हैं।

मक्षिकाओं के मधु को सब खातें हैं, सब चखतें हैं पर किसे पता है किन पुष्पों ने अपना हृदय सर्वस्व रस निचोड़करयह मधुर मधु हमें दिया है? कितना महान् त्याग है उस वन-वासी सुमन के जीवन में?

ऐसे त्याग का महत्व तो हम जैसे प्रतिष्ठा-लोलुप लोग ही आँकते हैं किन्तु जिनको उस प्रतिष्ठा से प्यार नहीं अपितु घोर धृणा है, वे वीतराग महापुरुष कब सोचा करते हैं, विश्व वाटिका में विकसित होने की बात? उन्हें मानवों के शिष्टाचार पूर्ण धन्यवाद की इच्छा नहीं है। वे विकसित होंगे पर कानन में, सौरभ श्री बिखेरेंगे पर कानन में। मधु-मक्षिका की तरह कोई रसिक जाय और उनकी सम्पत्ति-मधुर मधु को संचित कर लें। फिर चाहे उस संचय का उपयोग कोई करें, वे इससे बे-परवाह हैं।

हम यहाँ एक ऐसे ही वनय-पुष्प की भाँति प्रच्छन महापुरुष का चरित्र-चित्रण करने बैठें हैं जो भूतल पर आये और थोड़े से समय में अपना सम्पूर्ण एवं महान कार्य करके चले गये।इतनी शीघ्रता की उन्होंने कि किसीने यदि जाना-पहचाना, तो किसी ने पता तक नहीं पाया उनका। इन महापुरुष का नाम है श्रीदामोदरदास-- श्री सेवकजी जी महाराज

अस्तु, वर्तमान में प्रत्येक पढ़ा-लिखा व्यक्ति मध्य-प्रान्त(मध्य प्रदेश) से परिचित हैं। इस मध्य प्रान्त का पूर्वोत्तर भाग पहले 'गोंडवाना' के नाम से प्रसिद्ध था। गोंडवाना की राजधानी 'गढ़ मण्डल' या 'गढ़ा मण्डला' थी। इतिहास प्रसिद्ध वीरांगना रानी दुर्गावती इसी गढ़ा-मण्डला की रानी थीं। उस समय गढ़ा-मण्डला का परगना बहुत विस्तृत था,जिसका मुख्य नगर यह गढ़ा था जो वर्तमान जबलपुर शहर से पांच मील दूरी पर पण्य सलिला भगवती रेवा के पावन प्रान्त में। अवस्थित है। अब तो यह अपने प्राचीन खण्डहरों को अपनी गोद में लिए एक ग्राम के रूप में शोभा दे रहा है।

हम जिस चरित्र की बात कर रहे हैं वह इसी गढ़ा ग्राम में सम्वत् १५७५ वि. की श्रावण-शुक्ल-तृतीया को एक पवित्र एवं विद्वान् ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे। आपके पिता दो भाई थे। दोनों भाइयों से दो सन्तानें हुईं। बड़े भाई से चतुर्भुदास और छोटे भाई से श्रीदामोदर दास। दोनों बालक होनहार, मेधावी और सुंदर थे। स्वाभाविक ही सबका चित चुरा लेते थे। बचपन में ही दोनों भाइयों की पारस्परिक सहज प्रीति हो गयी जो अन्त तक पूर्णतया निभती गयी। ऐसी सुयोग्य सन्तान को पाकर ब्राह्मण भ्राताओं ने उनके अध्ययन-अध्यापन में कोई कोर कसर नहीं रखी, फलत: न कुछ सोलह सत्रह वर्ष की आयु में ही दोनों बाह्मण कुमार भक्ति-शास्त्रों के अच्छे पण्डित हो गये। विद्या के साथ इनके भक्ति-भाव की भी अभिवृद्धि हुई, जिससे इनकी ख्याति भी काफी हुई।

समय बितता गया और एक ऐसा समय आया जब दोनों के पिता क्रमशः एक एक कर परमधाम वासी हो गये। विधी का विधान और संसार की गति के ज्ञाता चतुर्भुज दास और दामोदर दास पर इसका उल्टा ही प्रभाव पड़ा, वे संसार से और भी विरक्त होकर निरंतर भजन पुजन, कथा किर्तन में ही अपना सारा समय बिताने लगे।अब साधु संग और भगवत भजन ही उनका एकमात्र आधार था।

अस्तु, हम जिन दिनों की बात कर रहे हैं, उन दिनों न तो रेल गाड़ी थी न डाक -चिट्ठी-पत्री लाने ले जाने के कोई विशेष साधन ही। पत्र-पत्रिकाओं प्रचार तो अब हुआ है। उन दिनों धर्म का प्रचार करने के लिए आचार्य एवं संत महात्मा-गण अपने साथ बहुत से सन्तों को लेकर-जमात बनाकर स्वतंत्र भाव से यहाँ-वहाँ विचरण किया करते थे। उन सन्तों के ही उपदेश से लोगों में जागृति होती और जिज्ञासु-जन बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुए उस उपदेश का अपने जीवन में उपयोग करते। धर्म, उपदेश और सदवार्ता की बेकद्री और तत्व-उपदेशों की निरर्थकता तो इस 'अखबारी युग' ने कररखी है।

हाँ; तो हम कह रहे थे कि उस समय धर्मोपदेशक संतों की मण्डलियाँ सर्वत्र घूमा करती थीं। उनमें से प्राय अधिकांश मण्डली चतुर्भुज दास और दामोदर दास के यहाँ अवश्य आया करतीं, क्योंकि ये दोनों भ्राता साधु-सेवी थे।श्री वृन्दावन की एक साधु मण्डली ने इनकी प्रशंसा सुनकर इनके घर निवास किया। इन्होंने भी संतों की बड़ी आव-भगत की। महात्माओं को भी इनकी निष्ठा-प्रीती से बड़ा आनन्द मिला। प्रथमदिन जब सब भक्तगण रात्रि को अवकाश पाकर सत्संग करने लगे तब चतुर्भुज दास ने बड़ी नम्रता पूर्वक महात्माओं से पूछा- "भगवान! हमने कितने ही महात्माओं के श्रीमुख से आचार्यापाद गोस्वामी श्रीहित हरिवंश चन्द्र जी महाराज के सम्बन्ध में उनकी प्रशंसा की अनेक बातें सुनी हैं। वे हमें अत्यंत प्रिय लगती हैं यदि आप भी कुछ जानते हो, तो कृपया सुनावें, दया होगी। हमने यह भी सुना है कि वे वंशी के अवतार हैं, आपके श्रीमुख से इस विषय के सुनने की बड़ी लालसा है। "

आचार्य-चरणों में दोनों भाइयों की इस सहज प्रीति का समरण करके महात्माओं की आंखों में प्रेम-जल छलक आया। अब एक वृद्ध से संत ने कहना आरंभ किया। वे बोले--"भाई! तुम दोनों बड़े भाग्यवान हो, जो श्रीवृन्दावन से इतनी दूर रहकर भी श्री

महाप्रभु पाद का पावन नाम तुम्हारे तक आया। हम भला उनके सम्बन्ध में क्या कह सकते हैं? जो कहें बड़ा थोड़ा है। तुमने जो जो सुन रखा है वह सब ठीक है-परम सत्य है। उनकी महिमा का अनुभव तो उनके प्रत्यक्ष दर्शन करने से ही विदित होगा।"

वृद्ध संत श्रीनवलदास जी की बात सुनकर दोनों भाइयों का भी हृदय प्रेमानंद से भर गया। शरीर पुलकित हो गये। कंठ गद् गद् होगये। गद् गद् कंठ से ही दामोदर दास ने कहा-"प्रभो! जिनकी महिमा इतनी विशाल है और जो प्रत्यक्ष रूप से इस धरा धाम पर इस समय विराजमान् हैं, अब तक हमको उनका दर्शन भी प्राप्त न हो सका, भला कितने अभागे हैं हम? चित्त तो यही चाहता है कि शीघ्र चलकर उन श्रीचरणों की अभय शरण ग्रहण कर लें किन्तु इस मिथ्या जगजंजाल से हमारा छुटकाराहोकर हम वहां पहुंच सकें, ऐसा कब होगा? यह तो बताइये कि क्या प्रभु हम जैसे अधमों को भी अपनी पावन चरण शरण देंगे?

दामोदर दास जी की दीनतापूर्ण प्रेम-वलित वाणी को सुन कर महात्माओं ने एक अनिर्वचनीय सुख का अनुभव किया धैर्य युक्त सन्त्वना देते हुए उन्हीं वृद्ध संत ने समझाया-"अरे! तुम क्या कह रहे हो? ऐसा नहीं कहना चाहिए। वे तो अशरण-शरण हैं। जिन्होंने कृपा पूर्वक मुझ जैसे। महापापी को अपनी अभय शरण में रख लिया, दूसरों की क्या बात है? तुम तो प्रभु के प्रिय पात्र हो, साधु हृदय और भक्त हो, नर्म, विवेकी और वीनयी हो, सत्यवादी हो, उदार हो और न जाने कितने ही गुणों के भंडार हो। तुम तो मानो उनके ही निज जन हो। तुम्हें अपने मुख से ऐसी बात शोभा नहीं देती। यदि तुम्हारे मन में उनकी चरण-शरण की अभिलाषा है, तो मेरी भी सलाह है कि शीघ्र श्रीवन के लिये प्रस्थान करो। शुभ्सय शीघ्रम- अच्छे कार्य में विलम्ब न करना चाहिते।"

दोनों भाइयों ने वृद्ध संत के चरणों में सिर रखते हुए बड़े हर्ष पूर्वक उनकी बात स्वीकार की। तदुपरान्त बहुत रात्रि तक उनमें श्रीकृष्ण-चर्चा होती रही। सारी रात बात की बात में बीत गयी। प्रात: काल नित्य क्रिया से निवृत्त होकर महात्मागण कहीं अन्यत्र विचर गये और इधर चतुर्भुज दास एवं दामोदर दास श्री वृन्दावन जाने की तैयारी करने लगे।

बाल- ब्रह्मचारी दामोदर दास के लिए तैयारी ही क्या थी? चतुर्भुज दास ने बड़ी शीघ्रता से अपने स्त्री बच्चों का प्रबन्ध कर दिया।अब तब चलने को तैयार ही थे कि अकस्मात् एक ऐसी आपत्ति आ पड़ी की दोनों को विवशता-पूर्वक तीन माह के लिए और रुक जाना पड़ा। बड़ी कठिनाई से तीन माह बिताकर दोनों चलने को तैयार हुए ही थे, कि उनके यहां वृन्दावन से साधुओं की एक और मण्डली आई। उनसे भी दोनों भाइयों की भेंट हुई, वे सभी संत इनके यहाँ ठहर गये।

कहते हैं, प्रेमी अपनी प्रिय वस्तु को ढूँढ़ा ही करता है। वह हर किसी से उसका पता पूछाता है। गोपियों ने महारास में अंतर्धान हुए श्रीकृष्ण-अपने प्रियतम का पता वृक्ष-लता, पक्षु-पक्षी और पृथ्वी से पूछा था। क्यों न हो? यही तो प्रेम की महत्ता है, स्वभाव है। दोनों भक्त बन्धुओं से न रहा गया, उन्होंने भी वृन्दावन के महात्माओं से अपने पूज्य गुरुदेव के सम्बन्ध में पूछा- "भगवान!आप लोग श्रीवन से आ रहे हैं, अतः श्रीहित हरिवंशचन्द्र महाप्रभु के सम्बन्ध में अवश्य कुछ न कुछ जानते ही होंगे, इस समय वे अपने प्रेमी रसिक भक्तों के साथ किन लीलाओं का आनंद विस्तार कर रहे हैं?

इनकी बात सुनकर भक्तों ने एक गहरी लम्बी दु:खभरी सांस ली और अपनी अपनी ग्रीवा नीची करके चुप हो रहे , किसी से कुछ कहा न गया। उनके नेत्रों से टप-टप आँसू भी टपक पड़े। साधुओं की यह दशा देख कर इन दोनों ने फिर पूछा-"प्रभो! आखिर

इस दुख का कारण क्या है? स्पष्ट कहिए, आपके दु:ख से हमारे हृदय में असम्भाविक पीड़ा सी हो रही है। सर्वत्र मंगल तो है न?"

उन साधुओं में अग्रणी संत ने बड़े दु:ख भरे स्वर में कातर वाणी से कहा-"पुत्रों! मंगल की क्या बात कहें? अब तो हमारे लिये सम्पूर्ण पृथ्वी अमंगल मयी बन गयी है। हृदय में जो दु:ख था, उसे हम किसी प्रकार वहन कर रहे थे पर अब तो उस दु:ख की करुण चर्चा करने का अवसर आया है उसे हम अपना कौन सा दुर्भाग्य कहें। क्या हमहीं विधाता की ओर से ऐसा अमंगल सन्देश देने के लिए नियत किये गये थे? यदि हमारे भाग्य में यह भी है तो कहना ही पड़ेगा। पृथ्वी का मंगल-सौभाग्य लुट गया, वृन्दावन सूना हो गया। रसिक सभा का श्रृंगार उजड़ गया, भक्त अनाथ हो गए। तुम्हारी अभिलाषाएं भी अधुरी रह गईं। आचार्य पाद अपनी लीला संवरण करके चले गए।"

संत अपनी बात पूरी भी नहीं कर पाये थे कि दोनों भाई कटे वृक्ष की भांति पृथ्वी पर मूर्च्छित होकर गिर पड़े। उनकी विरह दशा देख कर भक्तों में हाहाकार मच गया। सभी जोरों से रुदन करने लगे। कोई दो घड़ी तक वहां शोक का साम्राज्य छाया रहा। साधुओं के अनेक उपचार करने पर दोनों को शरीर का बोध हुआ; तब भी उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित थी। भक्तों के ढांढस देने और समझाने पर उनकी वाणी खुली और वो विलाप करते हुए "हा हरिवंश!हा हरिवंश!!! कह कह कर जोरों से रुदन करने लगे। इनका रुदन सुन उस समय पत्थर भी पसीज गये। एक बार फिर सब समाज करुणा रस के विस्तृत समुद्र में डूब गया था। साधुओं ने अनेक कथा-उपदेशों से इनके चित को धैर्य बँधाया, तब कहीं यह कुछ कुछ शांत हुए। सारा दिन और सारी रात शोकाकुल अवस्था में ही बीती। किसी ने कुछ खाया-पिया नहीं। दूसरे दिन समस्त महात्मा-गण अपना अपना सम्मान पाकर चले गए। इधर इन भाइयों ने विचार किया कि अब हम लोगों के लिए क्या कर्तव्य है? श्रीवन चलें तो क्यों और दीक्षा लें तो किनसे? इसपर चतुर्भुज दास जी ने अपनी यथोचित राय प्रकट की कि यदि आचार्य चरण नित्य-विहार में प्रवेश कर चुके हैं तो श्रीवन चलकर उनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीवनचन्द्र जी महाराज से ही वैष्णवी-दीक्षा मंत्र ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि श्रुति-शास्त्र भी इसी बात को प्रमाणित करते हैं कि"आत्म वै जायते पुत्र:" पिता की आत्मा पुत्र के रुप में अवतरित होती है। ऐसी दशा में हमारे लिए और कोई चारा ही क्या है?

अपने बड़े भ्राता की बात का उत्तर देते हुए दामोदर दास जी ने कहा-"दादा! आपने जो कहा वो अक्षरश: सत्य है, शास्त्रानुमोदित है किन्तु मेरा चित्त-चंचरीक तो केवल श्रीहित-हरिवंश-चरन-कमलों पर ही आसक्त है, इसके लिए अन्य गति ही नहीं है अतःएव मैं तो उन्हें ही प्राप्त करने का प्रयास करुंगा। उन्ही से दीक्षा लूँगा, मंत्र लूँगा और इच्छाएँ पूर्ण करुंगा अथवा अपने इस अधम शरीर को उनके वियोग में त्याग दूंगा। आप चाहें तो भले ही वृन्दावन जायें पर मेरे लिये आग्रह न करें। मैंने उनकी जो महिमा सुनी है उसे सत्य रूप में देखूंगा, तभी मुझे शांति होगी। मैं यहीं बैठ कर उन्हें पा लूंगा, मेरा ऐसा अटल विश्वास है।"

चतुर्भुज दास जी अपने छोटे भाई के सर्वभाव को जानते थे। वे निरुत्तर हो गये और उन्होंने कोई आग्रह भी नहीं किया वरन् स्वयं अकेले श्रीवन को चलने को तैयार हो गये।

इधर दामोदर दास जी अपने धर्म से बाहर निकल कर एक अश्वत्थ वृक्ष की छाया में खड़े होकर बोले-"आज मैं श्रीहित पाद-पदमों की प्राप्ति के लिए एक कठोर आमरण व्रत धारण करता हूँ। मैं सत्य सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि उन्हें प्राप्त करके ही अपने आसन से उठूंगा और अन्न जल ग्रहण करुंगा। यदि यह सत्य है कि श्रीहिताचार्य-चरण श्री कृष्ण की महामोहनी वंशी हैं, वे जीवों का कल्याण करने के लिये अवतरित हुए थे तो वे मुझपर भी कृपा करें। यदि मेरा उनके चरणों में सत्य और अनन्य अनुराग है,

तो वे मेरे भाव की रक्षा करें। यदि आज से नवें दिन तक उनका दर्शन मुझे न होगा तो मैं अपना शरीर अग्नि में जला कर भस्म कर दूँगा। मैं जिन चरणों में अपना सर्वस्व समर्पित कर चुका हूं वे कृपालु प्रभु इस दीन दास-सेवक पर अनुग्रह करें इसके सिवाय मेरे चित्त में और कोई अभिलाषा नहीं है। मेरी सत्य प्रतिज्ञा के साक्षी सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र, तारागण, देवता, ऋषि, महर्षि, मनुष्य, पशु-पक्षी सभी लोग इसे ध्यानपूर्वक श्रवण करें।"

इतना कह कर दृढ़व्रती दामोदर दास वहीं आसन लगाकर बैठ गये और "श्री हरिवंश श्री हरिवंश" की रट में तल्लीन हो गये। इधर चतुर्भुज दास अपनी लगन में पागल हुए श्री वृन्दावन के लिए चल पड़े।

एक, दो तीन क्रमश: आठ दिन व्यतीत हो गये। नवाँ सूर्योदय हुआ किन्तु दामोदर दास के विश्वास, लगन और उत्साह में जरा भी शिथिलत न थी वे अपने कार्य में पूर्णतया तत्पर थे। आज उन्हें भजन के बीच बीच में न जाने क्यों एक विचित्र तन्द्रा का सा अनुभव होता था। वे प्रयत्न-पूर्वक उसे हटाते पर ज्यों ज्यों हटाते। त्यों त्यों तन्द्रा गाढ़ होती जा रही थी। उन्होंने तन्द्रा में देखा- मेरी आंखों के सामने दिव्य-वारिमयी यमुना बह रही है, लता-द्रुम-मण्डित वृन्दावन शोभा पा रहा है। उन्होंने इसे अपनी भावना का मूर्त-रूप-भ्रम समझा और अपनी आंखें मींच ली, किन्तु ध्यान में भी वही दर्शन। उन्होंने फिर आँखेँ खोल दी फिर वही दर्शन। अब दृश्य गाढ़ हो रहा था। उन्होंने यह भी देखा-सामने प्रौढ़ आयु सम्पन्न कोई गौर महापुरुष खड़े हैं। उनके कांतिमय देह पर पीत वस्त्र शोभा पा रहा है। मुख मण्डल के चारों ओर दिव्य ज्योति जगमगा रही है। वे अपने कृपा पूर्ण नेत्रों से प्रेम की वर्षा कर रहे हैं। उनकी मुस्कान में अनन्त पवित्रता और आकर्षण का रस है।

यह सब देख कर सेवक-दामोदर दास आनन्द-पुलकित हो गये। तब तक वे महापुरुष उनके निकट आ गये और दामोदर दास के सिर पर अपना अभय करुणा वरुणालय वरद कर-कमल रखते हुए बोले-"प्रिय दामोदर! प्राण प्रिय सेवक! उठो; मै तुम्हे कृतार्थ करने आया हु। तुम्हारी निष्ठा और विश्वास ने मुझे आज यहां प्रकट होने के लिए विवश कर दिया। जगत् में तुम्हीं सच्चे शिष्य हो। सेवक शब्द की सार्थकता तुम्हारे ही रूप में है-अत: आज से जगत् में तुम्हारा नाम 'सेवक' ही विख्यात होगा।"

प्रभु के अमृतमय और कर्ण मधुर शब्दों ने दामोदर को विह्वल कर दिया। वे आनन्दातिरेक के कारण कुछ भी न बोल सके। प्रभु के चरणों से लिपट कर वे फूट-फूट कर रोने लगे। उस समय उन्होंने अपने प्रेमाश्रुओं से प्रभु पद-कमलों का प्रक्षालन किया। करुनामय प्रभु ने सेवक को उठा कर अपने हृदय से लगा लिया और वे अत्यंत प्रेम से उनका सिर सुँघने लगे। उस समय प्रभु के हृदय में मानों वात्सल्य-रस का समुद्र उफन रहा था। प्रभु ने कहा- "बोलो बेटा! क्या चाहते हो?"

बड़ी कठिनाई से धैर्य धारण करते सेवक ने कहा-"प्रभो! आपको पाकर अब और भी कुछ चाहना रह जाता है क्या?

प्रभु इसका उत्तर भी क्या देते? वे निरुत्तर थे। मानो वे मौन में भी कह रहे थे कि वास्तव में मुझे पाने के बाद कुछ शेष नहीं रह जाता किन्तु इस मर्म का ज्ञान किसे है? इसलिए कहना पड़ता है-" कुछ ले लो।"

अब प्रभु ने प्रकट शब्दों में कहना प्रारंभ किया। वे बोले-"प्रिय सेवक! तुमने मुझे जाना है पहचाना है, तुमने मुझपर अपना

सर्वतोभावेन सर्वस्व समर्पण किया है अतः एव तुम मेरे शिष्य हो मै तुम्हे अपना उपासना-मंत्र प्रदान करता हूँ; ऐसा कह कर प्रभु ने सेवक को उपासना-मंत्र प्रदान किया। तदोपरांत उन्होंने अपनी महती कृपा का प्रकाश करते हुए सेवक को सभी प्रकार से कृत कृत्य कर दिया। सत्य है श्री गुरुदेव की कृपा होने पर कौनसी वस्तु अलभ्य रह जाती है। सेवक ने श्री हरिवंशचन्द्र की शीतल कृपा के प्रकाश में देखा.....

सेवक ने श्रीहरिवंश की शीतल कृपा के प्रकाश में देखा ...

दिव्य श्री वृन्दावन धाम। नित्य नवीन किशोरी गण-सेवित युगल रसिक चूड़ामणि श्री वृन्दावनेश्वरी और वृन्दावनचन्द्र।

उन्होंने देखा--- *प्रेम का साकार स्वरूप। प्रेम का व्यापक स्वरूप अपने समक्ष मूर्तिमान श्री हरिवंशचन्द्र को।*

उन्होंने देखा--- *यह साकार प्रेम, अपनी प्रेम रश्मियों से मेरे अन्तराल को परिपूर्ण कर रहा है। स्वय साकार होकर भी निराकार रूप में मेरे हृदय में प्रवेश किये जा रहा है।*

उन्होंने देखा--- *वह अन्तर्धान होने को है । मैं बेसुध क्यों हुआ जा रहा हुँ।*

सेवक ने अपने आपको सम्हाला। उन्होंने बड़ी अधिकारपूर्ण प्रेम-पद्धति से अपने सर्वस्व के चरण पकड़ लिय। वे उनमें लिपट गये और अस्त-व्यस्त शब्दों में अपनी कृतार्थता प्रकट करने लगे, किन्तु उनके भाव अगम्य थे।

प्रभु ने अपनी विवशता प्रकट करते हुए कहा--"सेवक! मुझे विदा दो।"

'विदा'! सेवक का हृदय फटने लगा। "विदा!! एक क्षण भी तो नहीं हुआ तुम्हें आये? और विदा!! ठीक है, मैं जान गया, पार्थिव अपार्थिव का संयोग क्यों कर हो सकता है? किन्तु भगवान! मुझे पार्थिव से मोह नहीं है मैं इसका त्याग कर दूंगा किनतु अब इन प्राणों से यह वियोग न सहा जायगा।"

प्रभु ने बड़ी शान्त और गंभीर मुद्रा में कहा-- "मैं जानता हूँ, असह्य होगा यह वियोग; किन्तु इसे भी सहन करना होगा। केवल मेरे लिये--प्रेम के लिये। विश्व को कुछ काल के लिए तुम्हारी आवश्यकता है। मैं तुमसे दूर कब हूँ?"

प्रभु अन्तर्हित हो चुके थे बहुत देर पश्चात सेवक ने यह जाना। यह तन्द्रा नहीं थी, स्वप्न नहीं था यह थी प्रेम देवता मेरे इष्टदेव श्री

हरिवंशचन्द्र की कृपा। मैं धन्य हो गया मैं कृत कृत्य हो गया।

सेवक प्रेम की मस्ती में झूम उठे। उन्हें अपने देह, मन और प्राणों की भी सुधि नहीं रह गई थी। उनके तन मन प्राणों में केवल एक ही प्रेम ज्योति क्रिड़ा कर रही थी। उनका रोम रोम पुकार रहा था-- *"हरिवंश! हरिवंश!!!"*

अब वे प्रेम में पागल हुए अलक्षित गति से यत्र-तत्र विचरण करने लगे। जंगल, पहाड़ों, कन्द्राओं और खँडहरों में उनके आनन्दमय दिवस बितने लगे। उनके जीवन की कोई व्यवस्थित चर्या न थी, अतः एव यदि उन्हें जनसाधारण 'पागल' शब्द से पुकार उठते थे तो कोई अतिशयता न थी।

अस्तु: पाठक! सेवक अग्रज चतुर्भुज दास को भूले नही होंगे वे सेवक के दृढ़ासीन होने पर श्रीवन आ गये और आचार्य श्री वनचन्द्र जी ने उन्हें अपनाकर अपनी उदार जन- कृतकृत्य कारिणी दयालुता का परिचय दिया। अब चतुर्भुज दास, *स्वामी श्री चतुर्भुजदास* हो चुके थे।

एक दिन स्वामी चतुर्भुज दास जी आचार्य चरण से दामोदर दास का परिचय देते हुए उसके प्रतिज्ञाबद्ध होकर आसीन होने की बात भी कह सुनाई। जिसे सुन आचार्य चरण का नवनीत जैसा कोमल हृदय पिघलने लगा। वे दामोदर के प्रेम, उसकी लगन, पावन विश्वास और दृढ़ अनन्य भावना से मानो उस पर बिक से गये। कुछ क्षणों तक तो वे शांत भाव से दामोदर के असीम भावपूर्ण हृदय की माप करने में संलग्न रहे किन्तु जब उसे अपने मस्तिष्क पात्र से न माप सके तब मानो थकित होकर उन्होंने एक दीर्घ-नि:स्वास ली, और अत्यन्त वात्सल्य भाव से भरकर वे स्वामीजी से प्रिय दामोदर के विषय में अन्य अन्य चर्चाएँ करने लगे।

इस प्रकार कई दिनों की चर्चाओं से आचार्य पाद ने भली प्रकार से ज्ञात कर लिया कि दामोदर साधारण जीव नहीं है वरं कोई दिव्य विभूति है। अब उन्होंने दामोदर के मिलन की इच्छा प्रकट की। अब तक स्वामी चतुर्भुज दास जी को श्रीवन आये लगभग छः माह हो चुके थे। उनके लिए श्री आचार्यपाद की आज्ञा हुई कि वे जाकर प्रिय दामोदर का पता लगावें और दामोदर को श्रीवन लावें। तब तक संयोग की बात एक विलक्षण रीति से घटित हुई। स्वामी चतुर्भुज दास दामोदर की खोज में अपनी जन्म स्थली की ओर चलकर कुछ दूर पहुँचे ही थे, तब तक किसी तीर्थ संत के हाथों सेवक जी ने अपनी दिव्यानुभूतिमयी प्रेम सिद्धांत पारदर्शी वाणी आचार्य पाद के पास भेजी। वाणी का दर्शन अथवा पठन करके आचार्य-चरण कितने आह्लादित हुए और कहा ये वर्णनातीत है। श्री उत्तमदास ने उस दशा का किंचित् संकेत इस प्रकार किया है--

"बानी चली वृन्दावन आई। श्री वनचन्द्रहि अति सुखदाई।।

रिझी कहीं जौं वाही निहारौं। तौ सर्वसु सेवक पर वारौं।।"

आचार्य है! आचार्य ने वाणी देखकर सेवक दामोदर पर अपने इष्टदेव श्री राधावल्लभ लाल की सम्पूर्ण सम्पत्ति न्योछावर करने

की प्रतिज्ञा कर ली। आचार्य क्यों इतने मुग्ध हो गये? वाणी में ऐसा क्या था? श्री भगवत मुदित जी लिखते हैं-----

"बानी में गुरु हरि सम राखे। बानी बाल चरित सब भाखे।।

बानी में गुरु बानी भाव। गुरु बानी को बरन्यौ चाव।।

सेवक बानी में रस-रीती। रसिक अन्नयनि की परतीति।।

बानी में सर्वसु हरिवंस। बानी माँहि प्रेम के गंस।।

बानी में हरिवंस प्रताप। बानी में हित कौ जस-जाप।।

बानी रसिक अनन्यता बरनी। धर्मी-धर्म रीति मन हरनी।।

कृपा-अकृपा पात्र सब कहें। काचे पाके रसिक जु लहे।।

बानी में विधी नाही निषेध। बरने अवतारनि के भेद।।

जाति बरन कुल कौ व्यवहार। सब तजि कह्यौ धर्म हित सार।।

ग्रह नक्षत्र दिन कुदिन न जानैं। श्रीहरिवंस धर्म ही मानैं।।

रसिक अनन्य धर्म निजु सार। 'सेवक बानी' में निरधार।।"

वास्तव में वाणी क्या थी, राधावल्लभ प्रेम-सिद्धान्त की दिव्य मूर्ति थी; इसलिए आचार्य श्रीवनचन्द्र जी ने प्रतिज्ञा की---

जा दिन सेवक कौं लखि पाऊँ।

तौ हौं सब भंडार लुटाऊँ।।

-(श्री भगवत मुदित जी)

अब तो आचार्य श्रीवनचन्द्र प्रभुपाद के मन में सेवक के दर्शन मिलन की तिव्र उत्कंठा जाग उठी थी, वे अहर्निश सेवक की ही बांट देखा करते थे। इधर स्वामी चतुर्भुज दास तीन माह की यात्रा कर गढ़ा ग्राम-अपनी जन्म भूमि जाकर अपने प्रिय दामोदर सेवक का पता लगाने लगे।

वे हर किसी से अपने प्रिय दामोदर का समाचार-पता पूछते, किन्तु कोई ठीक ठीक बताता ही न था। जो कहता वो यही कहता--हमें क्या पता बाबा! तुम्हारा दामोदर कौन है और कहाँ है?

अनवरत में, किसी एक ग्रामीण ने बताया "बाबा जी! हम यह तो नहीं कह सकते कि जिसे आप पूछ रहे हैं, वह वहीं व्यक्ति हैं, किन्तु कुछ दिनों से हमारे इन ग्रामों में एक विक्षिप्त सा युवक घूमा फिरा करता है। है तो वह पागल ही किन्तु उसे हम संसार के अन्य पागलों की तरह पागल भी नहीं कह सकते। उसकी प्राय: सभी दैनिक क्रियायें उचिततया ही सम्पन्न होती हैं किन्तु न तो वह किसी से बातें ही करता, न कुछ खाने पीने को ही मांगता है। मन आता गाने लगता है, मन आता रोने लगता है। कभी अपने आप ही अकेला बातें करता है और कभी जोर से खिल खिला कर हँसने लग जाता है। सोना तो मानो वह जानता ही नहीं। जब देखो इधर-उधर घूमता ही दीखता है। सब से बड़ी बात तो यह है कि दिन रात उसके मुंह से निकले, **'श्री हरिवंश! श्री हरिवंश! हा हरिवंश!!!**' बस यही शब्द हर दिशाओं में गूंजते रहते हैं। क्या कहें महाराज! उसके 'हरिवंश' शब्द में कितनी मिठास है, जब वह 'हा हरिवंश' कहता है, तो ऐसा लगता है मानो वह अपने हृदय का समस्त माधुर्य उँड़ेल दे रहा है और उस माधुर्य से हमारे तन-मन-प्राण परितृप्त हुए जा रहें हैं।"

"बाबा जी! यद्यपि वह 'हरिवंश' का प्रेमी सा जान पड़ता है पर हमारी समझ में उसे इस हरिवंश की बला सी लग गयी है।" जाने यह हरिवंश क्या मुसिबत है, जो उस बेचारे को खाने-पीने और आराम से सोने नहीं देती। उसे जरा भी चैन नहीं है। हम सत्य कहते हैं, हमें तो उस बेचारे पर तरह आता है, और उस हरिवंश पर क्रोध। किन्तु करें क्या? हमारा कोई बस भी तो नहीं चलता, उन दोनों पर।"

उस वृद्ध ग्रामीण की बातों पर से स्वामी चतुर्भुज दास जी ने खूब अनुमान कर लिया कि हो न हो मेरा प्यारा दामोदर यही है किन्तु उन्हें वृद्ध की मीठी, अटपटी और भोली और प्रेम रस से सनी बातों में बड़ा रस आ रहा था, अतः: वह चुप चाप सुनते ही चले जा रहे थे। क्यों न हो अपने प्रिय की चर्चा अनुकूलत या प्रतिकूलत दोनों ही प्रकार से प्रिय लगती है। वृद्ध कहता ही जा रहा था--

"बाबा जी! आप साधु है न, पंडित भी मालूम पड़ते हैं, आप ही बताइए ये **'हरिवंश'** क्या है? हमने भी साधुओं का संग किया है, पुराणों की कथाएं सुनी है, हमने विद्वानों से समागम भी किये हैं, पर किसी ने हरिवंश को न बताया। सबने यही बताया राम कहो, कृष्ण कहो, गोविंद कहो, हरि कहो। वामन, नृसिंह, विष्णु, मुरारी यह सब उसके नाम है। इन नामों को जपने गाने से मुक्ति होती है पर यह 'हरिवंश' न कहीं सुना न कहीं देखा पढ़ा ही।"

"मैं तो निश्चित रूप से कह सकता हूं कि उस बेचारे युवक को इसी हरिवंश ने पागल कर रखा है। जिसका वह नाम लेता है।"

"क्या कहुं महाराज! कितना सुन्दर है वह युवक? गोरा गोरा सोने सा शरीर, ब्रह्मचर्य के तेज से जगमग करता रहता है। उसके अंगों की सुढारता, तेजोमय मुख मण्डल, अजान भुजाएं, प्रशस्त वक्षस्थल किसके मन को बरबस आकर्षित नहीं करता। प्रफुल्लित मुख-कमल के आस पास जो काली काली घुंघराली लटें बिखर रही हैं, यद्यपि वह धूल से सदा धूसरित रहतीं हैं तो भी ऐसी मालूम होती है, मानों मकरंद पान के लोभी भौंरें पराग से धूसरित हो कर कमल के आसपास ही थके लटक रहें हैं।"

"स्वामी जी! सचमुच बड़ा ही मनोहर है वह। किन्तु हाय! जब वह 'हा हरिवंश' कहकर जोरों से करुण चित्कार करता है, तब

अवश्य हमारे प्राण काँप से जाते हैं। भले ही वह आपका दामोदर हो या न हो किन्तु एक बार आप चलकर उसको देखने का कष्ट तो अवश्य किजिए। आप मेरी बात पर विश्वास किजिए, वह बड़ा ही सुन्दर है, बड़ा मनोहर है। ऐसा मालूम होता है मानो पृथ्वी पर स्वर्ग-लोक का कोई देवता ही मनुष्य रुप में उतर आया है।"

वृद्ध की बात सुनकर स्वामी जी तो मंत्र मुग्ध हो गये। वे सेवक के, अपने दामोदर के प्रेममय ध्यान में स्तम्भित से हो गये थे। तब तक वृद्ध ने स्वामीजी को झकझोर कर सचेत किया और वह फिर कहने लगा--

"बाबा जी! आप भय न करें! मेरे साथ चलें, मैं खोजकर उसका दर्शन कराऊँगा। मैं आपसे अनुरोध करता हूं कि आप उसकी दवा करें। आप साधु हैं आपको उसपर दया करनी चाहिये। आप मंत्र-तंत्र ओझा गारुड़ी कुछ अवश्य जानते होंगे। चलिये देंगें, वह पागल किधर घूम रहा है।"

यों कहता हुआ वह वृद्ध चतुर्भुज दास जी को हाथ पकड़ कर ग्राम की ओर ले चला। वृद्ध की बात पर से स्वामी चतुर्भुज दास जी को पुर्ण निश्चय हो गया कि मेरा दामोदर अवश्य प्रभु के दर्शन से कृतार्थ होकर, उनके प्रेम में उन्मत हो गया है। अवश्य उसपर श्री हरिवंश की प्रेममयी-कृपा बरस पड़ी है। स्वामी जी अत्यन्त आनन्द के आवेश में वृद्ध के साथ चले जा रहे थे,। उनकी दर्शन-ललक और उत्सुकता का कोई पार न था।

वह वृद्ध स्वामी जी को हाथ लिए ग्राम, जंगल और सरिता के तटों पर दिन भर पागल युवक को खोजता रहा। अन्त में संध्या के कुछ ही पुर्व उसे किसी पुराने खण्डहर में उसके रोने की आवाज सुनाई दी। वृद्ध समझ गया कि वह आवाज़ उसी पागल की है। उसने स्वामी जी से कहा-- "सुनते हो, महाराज! यह करुण चित्कार! यह उसीका स्वर है। चलिए, वहीं चलें जहां से यह आवाज़ आ रही है।"

अंततः सब लोग (अर्थात वृद्ध, स्वामीजी, उनके संगीत साथी, और ग्राम के अन्य कुछ लोग) उस पागल के पास पहुंचे। वृद्ध ने इशारा किया और स्वामी जी ने प्रथम दृष्टि में ही अपने प्राण-प्रिय दामोदर को पहचान लिया। वे प्रेमावेश में एकदम दौड़े, और शीघ्रता पूर्वक सेवक को हृदय से लगा कर स्वयं भी जोरों से रुदन करने लगे। प्रेम का वार्द्धक्य उनके आपे से न रुका, वे अपने आपको खूब सम्हालते हुए भी न सम्हाल सके। सेवक के प्रेम प्रभाव ने उन्हें रोने के लिए विवश कर दिया, अथवा वे स्वय एक पागल का स्पर्श पाकर पागल हो गए।

लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न था। वे सब सोच रहे थे- हाय भगवान! अब क्या होगा? अभी तक तो एक ही पागल था, अब दो हो गये। लोग इन्हें समझाते भैया! क्यों रोते हो? पर क्या यह समझाने-समझने की बातें हैं। इस ना समझी में कितना रस था, कितना आनन्द था कौन बताए?

दो प्रेम सागर एक महा प्रेमसागर बने जा रहे थे। प्रलय हुआ चाहता था, ज्वार भाटे से। बड़ी कृपा हुई, जो अपने आप शांत हो चला। धीरे धीरे उनकी उत्ताल तरंगे , धीमी पड़ी। तूफान शांत हो चुका था,। इसलिए लहरें भी शान्त थी।

दोनों प्रकृतिस्थ हो गये थे। तब धीरे से सेवक के सिर पर अपना प्रेम पूरण कर-कमल फिराते, उनकी लटों को सुलझाते हुए स्वामी जी ने पूछा-"दामोदर! तुम्हें यह क्या हो गया?"

दामोदर क्या कहते क्या हो गया है। उनकी आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे, हृदय में टीस उठी और एक लम्बी साँस निकल पड़ी।

बस, इतना ही परिचय काफी था, स्वामी जी सब समझ गये। उन्हें वैखरी में समझने की आवश्यकता न थी, पर वे उन लोगों को समझाना चाहते थे, जो सेवक को पागल और विक्षिप्त समझते थे। उन्होंने सेवक से फिर पूछा-"हाँ, बताओ, सावधान हो कर कहो तुम्हारी ऐसी विक्षिप्त सी दशा क्यों हो गयी?"

अपने पूज्य बन्धु एवं संत की आज्ञा की अवहेलना सेवक जैसों से सम्भव न थी। उन्होंने धीरे-धीरे लड़खड़ाती पंगु वाणी में कहना प्रारंभ किया-

"आपसे बिछुड़ कर मैंने नौ दिवस पर्यन्त अनशन पूर्वक 'श्रीहरिवंश' नाम की रट लगाई थी। बीच की बातें क्या कहुं, नवें दिन मेरा भाग्य सूर्य उदय हुआ। मैंने अपने आपको एक ज्योति में पाया। श्रीहरिवंश ने मुझपर कृपा की। उन्होंने दर्शन दिया, मंत्र दिया, विपिन-विहार दिया, उन्होंने मेरे सारे मनोरथ पूर्ण कर दिये। वे मेरे प्रभु हैं, वे मेरे गुरु हैं, वे मेरे सर्वस्व हैं। मैं उनका हुँ, उनका सेवक हुँ।"

इतना कहते-कहते सेवक प्रेम में विह्वल होकर फिर रोदन करने लगे, और फिर मूर्च्छित होकर अपने अग्रज की गोद में लुढ़क गये।

इस मिलन प्रसंग से उपस्थित ग्रामीण-गण एवं वैष्णव समुदाय को अपार सुख मिला। सबने बड़े सुखपूर्वक वहीं रात व्यतीत की। ग्राम वासियों ने संतों की बड़ी आव-भगत की। वे अब समझ गये थे कि ये पगले प्रेम के पगले हैं। हरि रुप हरिवंश के पगले हैं। उनकी दृष्टि अब हरिवंश के पुनीत चरणों तक पहुंच चुकी थी, क्यूंकि वे सब ही तो हरिवंश-प्रिय सेवक के अनबूझ सखा थे। सेवक सख्यत्व के नाते ही हरिवंश कृपा के प्रथम अधिकारी हुए वे उस गोंडवाना जैसे अपावन देश में।

अस्तु; जब रात्रि के समय सब लोग भोजन-प्रसादि से निवृत्त होकर बैठे तब स्वामी जी ने श्रीवन से चलकर यहाँ आने का आशय प्रकट करना चाहा। उन्होंने सेवक जी से कहा-"भाई! आचार्य चरण तुमसे मिलने के लिए बहुत आतुर हैं, उन्होंने मुझे तुम्हारे पास इसलिए भेजा है कि मैं शीघ्र तुम्हें उनके पास भेजूँ। यदि तुम चाहो तो उनकी आज्ञा शिरोधार्य करो अथवा मैं ही जाकर उन्हें तुम्हारा कुशल समाचार सुना दूँ।"

दामोदर सेवक जी ने स्वामीजी की बात सुनी और गम्भीरता से उस पर विचार भी किया, पश्चात नम्र निवेदन किया कि मुझे अपने प्रभु श्री हरिवंश की आज्ञा का पालन करने के लिए केवल एक वर्ष तक भूतल पर अवश्य रहना होगा। उन्होंने मुझे जो जो कार्य सौंपे थे, उनमें से एक कार्य अपनी शक्ति सामर्थ्य के अनुसार मेरे द्वारा पूर्ण हो गया है। श्री हरिवंश के त्रिभुवन पावन यश की माला रुप वाणी श्रीवन जा चुकी है। अब मैं भी श्रीवन और आचार्य-चरण के दर्शन करना चाहता हूँ। यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं श्रीवन जाऊँ और आचार्य-चरण की आज्ञा एंव अपना मनोरथ दोनों पूर्ण करूँ।

स्वामी जी ने सेवक दामोदरजी की बात सहर्ष मान ली। अन्य सबने भी इस बात का समर्थन किया। अब यह निश्चय हो चुका था कि श्रीसेवक जी श्रीवृन्दावन पधारें और स्वामी जी कुछ दिन इसी देश में निवास करके यहाँ के निवासियों का कल्याण करें।

ग्राम वासियों से अब तक यह बात छिपी न रह गई थी कि ये वे ही चतुर्भुज दास एवं दामोदर दास है, जो गढ़ा-हमारे समीपस्थ ग्राम के निवासी प्रकाण्ड पंडित हैं। पाण्डित्य के पूर्व परिचय के साथ जब इनके विलक्षण भक्ति भाव काभी उन्हें दर्शन मिला,।तब तो मानो वह ग्राम वासियों के लिए वे बन्धु-द्वय प्राण हो गये। आस-पास के ग्रामों से दर्शकों की अपार भीड़ एकत्र हो गयी। श्रृद्धालु प्रेमीयों ने कितने ही दिनों तक दोनों सन्तों के सत्संग का अपार सुख लूटा। अन्त में सब ने देखा कि सेवक जी के मन में श्रीवृन्दावन-दर्शन की अत्यंत लालसा है, वे अधिक काल तक यहां नहीं रुक सकेंगे, अत: अब अधिक रोकने का प्रयास मानो उनके हृदय में कष्ट उत्पन्न करना है। लोगों ने विदा दे दी। सेवक जी प्रात:काल श्रीवन के लिए विदा हो जाँयगे, यह बात ग्राम वासियों के लिए असहाय थी। इस दुख और शोक के प्रबल प्रवाह से त्राण पाने का उनके पास कोई उपाय न था।

दु:ख के समय मनुष्य की बुद्धि या तो घबरा कर कुण्ठित हो जाती है, या उस दु:ख से शीघ्र छूटने के उपाय खोजने लगती है। लोग इस वियोग दु:ख से छूटने और इतने बड़े सत्संग लाभ के हाथ से सहसा न छूटने के प्रयास में लग गये। सत्य है, जो वस्तु का हृदय से अनुरागी होता है, उसे अपनी इष्ट वस्तु का किसी न किसी रूप में लाभ अवश्य ही होता है। **अरथ तजहिं बुध सर्वसु जाता** के न्याय से लोगों ने स्वामी चतुर्भुज दास जी को रोक रखने का विचार खोज निकाला और अन्त में सबने मिलकर उनसे प्रार्थना की।

प्रार्थना में महान् शक्ति होती है। यदि प्रार्थना सच्चे हृदय से की जाये तो भगवान का भी आसन हिला देती है। गजेन्द्र और द्रौपदी इसके ज्वलंत प्रमाण है। ग्रामीण वासियों ने स्वामीजी के चरणों में उनके रुक जाने की प्रार्थना की। ग्राम वासियों के सरल और छलहीन शब्दों ने जो अटपटे प्रेम से लिपटे हुए थे, स्वामी जी को लाचार कर दिया। उनमें यह साहस ही न रह गया कि उन भावुकों से न कर सकें, अन्ततोगत्वा उन्होंने गोंडवाने में ही कुछ काल अपने रहने की बात स्वीकार कर ली। भक्तजन आनन्द से भर गये।

मानविय व्यपार व्यवहारों में अन्तर हो सकता है किन्तु काल भगवान का क्रम सर्वदा एक-सा चलता है। सृष्टि के आदि काल से उन्होंने अपनी चर्या दुरुस्त रखी है, वे सदा अपनी एक ही गति से ही चलते आते हैं। ठीक है बड़ों का आदर्श ऐसा होना भी चाहिए। काल-भगवान की गति अवरुद्ध कर सके, ऐसा कोई साहसी भी तो नहीं है। रात बीती और वह भयावना प्रात: भी आ गया जिसमें सेवक जैसे प्रेम-मतवाले से उन भावुक ग्रामीणों का वियोग हो जाना निश्चित था।

सबेरा हुआ और अपने दैनिक कृत्य से निवृत्त होकर थोड़ा दिन चढ़ते चढ़ते सेवकजी सबको बिलखता छोड़ श्रीवन के शुभ पथ पर चल पड़े। लोगों के दु:ख का क्या वर्णन करें? सेवक जी की कठोरता भी तो अकथ है। साधारण दुष्टों से ये सुष्टु दुष्ट और भी बुरे होते हैं। सत्य कहा है संत तुलसीदास जी ने-

बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दारुन दु:ख देहीं।।

दुष्ट तो दुष्ट है हीं, सज्जन और भी बड़े दुष्ट हैं, कष्ट दोनों देते हैं। च अस्तु; वही सब सेवक जी ने किया।

अस्तु; सेवक जी अपनी धुन में मस्त चले आ रहे थे, श्रीवन की ओर। वे चलते-चलते श्रीवन की मंजुल वंजुल कुंजों के ध्यान में तल्लीन हो हो जाते। शरीर की सुधि नहीं थी, खान पान की तो बात ही व्यर्थ है। श्रीवन से पुरी जाने वाले अनेकों संत उन्हें मार्ग में मिले और सब ने श्रीवन का सुखद सम्वाद अपने अपने ढंग से उन्हें सुनाया। जब वे श्रीवन से कुछ ही दूर थे, उन्हें आचार्य श्रीवनचन्द्र प्रभु का एक पत्र मिला। आचार्य का कर कमलांकित पत्र पाकर सेवक आनन्द से भरगये। उन्होंने पत्र को सिर से और हृदय से लगाया और खोलकर बाँचने लगे। उसमें, परम स्नेह की सुधा लहर रही थी, जिससे सेवक का भावुक हृदय छलक उठा। हाथों में पत्र और नयन की खोरों में जल लिये सेवक उसे बाँचते ही रहे। उस पत्थर में लिखा था--

उस पत्र में लिखा था--

"मेरे प्रिय दामोदर!

शत-शत प्यार।

जब से तुम्हारी प्रेम गाथा सुनी है, तभी से हमारे प्राण तुम्हें देखने के लिए आकुल हैं। मैं दिन प्रतिदिन तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा कर रहा हूं।

मैं उस दिन कितना सुखी होउँगा, जिस दिन तुम्हें श्रीवन में देखूंगा, कह नहीं सकता। मैं जिस दिन तुम्हें पाउँगा, कितना धनी हो जाउँगा, व्यक्त करना कठिन है। मैं उस दिन तुम्हारे मिलन की खुशी में, मिलन के आनन्द में परम प्रियतम श्री राधावल्लभ लाल का समस्त भण्डार को लुटा उस आनन्द के प्रवाह को शान्त करूँगा।

इस पत्र को पाकर विलम्ब न करना। शीघ्र श्रीवन के लिए प्रस्थान कर देना। अवश्य और शीघ्र आओ, तुम्हें मेरी शपथ है।

अधिक क्या लिखूँ; इतने में ही सब समझ लो। विशेष लिखने की गति तुम्हारे प्रेम ने छीन ली है।"

-तुम्हारा

वनचन्द्र गोस्वामी

वृन्दावन

शुभ मिति...संवत्सर १६१०विक्रम

पत्र ने सेवक जी को आनन्द में डुबाया ही, दु:ख में भी डुबा दिया। वे सोचने लगे मेरे मिलन की खुशी में राधावल्लभ लाल जी का भणडार लुटा दिया जायेगा। उनके मस्तिष्क में 'मैं उस दिन तुम्हारे मिलन की खुशी में परम प्रियतम श्री राधावल्लभ लाल का समस्त भंडार लुटाकर उस आनन्द के प्रवाह को शान्त करूँगा"।यह रह कर गूँजने लगा।

सेवक जी किंकर्तव्य विमूढ़ से होगये। वे सोच नहीं पाते थे कि क्या करना चाहिए? श्रीवन न जाऊँ आचार्य ने अपनी प्रेम-शपथ दी है, अत: श्रीवन चलना अनिवार्य है। फिर जब मेरे जिने पर श्रीजी का भण्डार लुटाया जाएगा तब कैसा होगा? कितना गजब होगा, सेवक के लिए प्रभु का भण्डार लुटेगा?

सेवक जी का सिर घूम गया। वे थकित से होकर बैठ गये। बड़ी देर तक वह जाने न जाने की उलझन में फंसे रहे। अन्त में उनके हृदय ने निर्णय दिया, श्रीवन चलकर मैं आचार्य के चरण पकड़कर उनसे ऐसा न होने देने की प्रार्थना करूंगा। वे प्रेममय हैं, मानेंगे क्यों नही।

फिर मन ने कहा यदि न माना उन्होंने तो क्या होगा? भण्डार लुटने का दृश्य उनके सामने झूल गया। उनके मन ने सान्त्वना सी दी वेष बदलकर चलो, इससे आचार्य पहचान ही न पावेंगे और शायद तब सब आपत्तियाँ टल जायँ। डूबते को तिनके का सहारा बहुत है। इस सोच से उन्हें बल मिला।

अस्तु; अब सेवक जी बड़ी तीव्र गति से श्री वृन्दावन चले। कहते हैं हृदय में प्रेम हो, किसी के दर्शन की उत्सुकता हो, प्रियतम के संगम होने की संभावना हो और शरीर में अमित शक्ति हो तो मनुष्य की गति देवता जैसी हो जाती है। सेवक जी अबाध गति से श्रीवन की ओर बढ़े चलै जारहे थे, उनका लक्षय निश्चित था। एक तो मार्ग में कोई प्रलोभन था ही नही, यदि था भी तो वह सेवक जी के दिव्य प्रेम प्रवाह में कब का बह चुका था। सेवक जी कुछ दो माह में श्री वृन्दावन आ पहुंचे। उन्होंने जिस दिन श्री वृन्दावन में प्रवेश किया, उस दिन उनके गुरुदेव श्री हरिवंश चंद्र जू की दी हुई अवधि के केवल सात दिन ही शेष रह गये थे।

अस्तु; श्रीवन में पहुँचते ही श्री सेवक जी को वह बात फिर खटकी, "तुम्हारे देखते ही आचार्यपाद न श्री राधावल्लभ लाल का समस्त भंडार लुटा देने की प्रतीज्ञा कर बैठे हैं," सेवक जी का हृदय एक विषम चिन्ता से फिर व्यग्र हो उठा। उन्होंने सोचा, कितना आश्चर्य होगा, मुझ अधम सेवक के मिलन की खुशी में मेरे प्रभु श्री राधावल्लभ लाल का समस्त भंडार लुटा दिया जायेगा। ठीक है आचार्यपाद तो उदार हैं, गुणग्राही हैं, भक्त वत्सल हैं, वे जो करें, उनके लिए उचित ही है, किन्तु क्या मेरे लिए भी यही उचित है, कि मैं बिना किसी प्रतिकार के यह सब स्वीकार कर। लूँ? ऐसा कदापि न होने दूंगा। मैं ऐसे वेष में जाऊँगा, जिससे मुझे आचार्यपाद पहचान ही न पावें।

ऐसा निश्चय करके सेवक जी ने अपना वेष बदल लिया। अब उनके शरीर पर एक कौपीन, कन्था और हाथ में कमण्डलु था। उनका सर्वांग ब्रज-रज से धूसरित था।

इस प्रकार सेवक जी एक अवधूत के वेष में ही अपने प्राणेश्वर श्री राधावल्लभ लाल जी का दर्शन करने मंदिर में गये। मंदिर में प्रभु के दर्शनार्थियों का समुदाय पहले से ही सदा की भाँति एकत्र था, सेवक जी उन्हीं के बीच छिपकर अपने प्रियतम की छबि निरखने लगे। दर्शन तो हम भी सब करते हैं किन्तु प्रेमियों के दर्शन में और सामान्य लोगों के दर्शन में आकाश पाताल का अन्तर होता है। जिस प्रकार प्रेमी अपने प्रेमास्तद प्रभु से प्रेम करता है, उसी प्रकार प्रभु भी उस प्रेमी को अपना प्रेमास्पद मान लेते हैं और वे भी उनका दर्शन करने लग जाते हैं। सेवक जी के आते ही श्री राधावल्लभ लाल के नयन कमल खिल उठे। वे सब कुछ भूलकर सब ओर देखना छोड़कर प्रेम सतृष्ण नेत्रों से अपने प्यारे सेवक को ही देखने में तन्मय हो गये। इस रहस्य को केवल वे दोनों प्रेमी-प्रेमास्पद, या प्रेमास्पद-प्रेमी ही जानते थे। शेष सब दर्शनार्थी तो अपने अपने रंग में मस्त थे।

श्रीवनचन्द्र आचार्यपाद कोई साधारण व्यक्ति तो थे नहीं। वे अपने प्रभु की क्षण-क्षण की स्थितियों को परखा करते थे। स्पष्ट शब्दों में कह दें तो उन्हें श्री राधावल्लभ लाल का तत्त्व साक्षात्कार था। आज वे ही सेवा में तत्पर थे। उन्हें यह बात जँच गयी कि अवश्य कोई ऐसा प्रेमी दर्शन इस उपस्थित समुदाय में आ पहुँचा है, जिससे प्रभु सब ओर का ध्यान भुलाकर उसके प्यार में अपने नेत्र बाँध चुके हैं। इसके सिवाय और कोई बात हो ही नहीं सकती इनके चकोर बन जाने की।

आचार्य ने एक खोज भरी दृष्टि दर्शक-वर्ग की ओर डाली। उन्होंने एक ही शण में अपने चोर को पकड़ लिया। वे सोचने लगे, चतुर्भुज दास ने जैसा वर्णन किया था, वही रंग वही ढंग, वही अवस्था, वही गठन, वही रूप सौंदर्य, सब कुछ वही, एक दम वही। तो क्या यही मेरा दामोदर है? मंदिर में विराजमान प्रभु ने मुस्कुरा दिया और उनके हृदय मंदिर के प्रभु ने कहा-तो क्या और भी कोई हो सकता है जिसके पहचानने में तुम्हें इतना संकल्प विकल्प करना पड़े?

निश्चय के साथ ही आचार्य का हृदय प्रेमान्द से छलक उठा। एक ही साथ उनके शरीर में अनेकों सात्विक विकारों का उदय हो आया। रोमांच, कंप, वैवणर्य, स्वेद----वे अब तब मूर्च्छित होकर गिरना ही चाहते थे किन्तु उन्होंने अपने आप को संभाला, वे मंदिर से बाहर आये, सो भी इस प्रकार, जैसे कोई महारंक, सहसा आ प्राप्त हुई महानिधि को समेट लेने को आतुर होकर लपक पड़े। वे दौड़े, सेवक को अपने बाहु-पाश में बांध लेने के लिए। यह स्थिति सेवक की कल्पना से अतीत थी, वे कुछ समझ ही न सके, क्या करें और क्या न करें। सेवक अधीर हो कर आचार्य के पुनीत चरणों से लिपट गये। ऐसे जैसे भयाकुल प्राणी अपने त्राणकारी आधार को सर्वतोभावेन जकड़ लेता है। दर्शनार्थीगण प्रभु का दर्शन छोड़कर इन प्रेम पागलों का दर्शन करने लग गए। दोनों अवाक् थे, अमना हो चुके थे। आचार्य अपने प्रेमाश्रुओं से सेवक का अभिषेक कर रहे थे और सेवक अपने प्रेमाश्रुओं से आचार्य का पाद् प्रक्षालन। प्रथम मिलन की प्रक्रिया अपने आप पूर्ण हो रही थी।

(आखिर कब तक होती रहती यह प्रक्रिया) आचार्य ने सेवक को उठाकर अपने हृदय से चिपटा लिया और प्यार-पूर्वक उनका सिर सुँघने लगे। सेवक मारे संकोच और प्रेम-लज्जा के गड़े से जा रहे थे। उनके नेत्रों से अब भी अनवरत अश्रुधारा प्रवाहित थी, वे अपराधी की भांति दीन हुए उभय करबद्ध आचार्य से लगे सिमटे से खड़े थे। उन्होंने बड़े ही संकोच से अपने आपको आचार्य से छुडा़ कर पुनः उनके श्रीचरणों का स्पर्श किया और कुछ दूरी पर मर्यादा-पर्वक खड़े हो गये।

तत्पश्यात आचार्य ने अत्यन्त आनन्द के स्वर में कहां- "दामोदर! तुम्हें देख लेने के लिये मेरे नेत्र और प्राण कबसे आकुल थे, आज मैं कितना प्रसन्न हुँ तुम्हें देखकर, कैसे प्रकट करूँ?"

सेवक ने सकुचाते हुए उत्तर दिया- "प्रभो! यही तो आपकी महानता है, जो मुझ जैसे को इतना समादृत कर रहें हैं। मैं तो इतना ही जानता हूं कि आज आपके पुनीत चरणों के दर्शन करके मेरा जीवन सफल हो गया। मैं आज सचमुच धन्य हो गया।"

आचार्य ने पूछा-"किन्तु सेवक जी! यह तो बताओ कि तुमने इस प्रकार छिपकर बिना सूचना दिये आने की क्यों सोची?"

इस प्रश्न से सेवक जी समझ गये कि आचार्यपाद अपनी उसी आज्ञा पर अटल हैं और अपनी उसी बात का उपक्रम कर रहे हैं। उन्होंने उत्तर दिया-"भगवन! आप से क्या छिपा है? फिर भी जब आप पूछतें हैं तो कहना ही होगा। मैंने सुन रखा है कि प्रभु ने मुझ अधम के मिलन के उपलक्ष्य में श्री राधावल्लभ लाल का समस्त भण्डार--खजाना.....

सेवक इसके आगे कुछ कह न सके....

सेवक इसके आगे कुछ कह न सके....। वे इस वाक्य को अपने मुख से निकालने में भी असमर्थ थे। उनकी अधूरी बात को आचार्य ने पूरी करते हुए कहा- "लुटाने की प्रतिज्ञा कर रखी है। सत्य है। तुमने जो सुना है सब सत्य है। आज मैं तुम जैसे भण्डार को पाकर कितना बड़ा धनी हूँ, इसे विश्व देखे। इसलिए मैं श्रीजी का सम्पूर्ण भण्डार लुटाऊँगा। इसमें कोई संदेह नहीं।"

आचार्य की बात सुनकर सेवक जी ने प्रार्थना के भाव में कहना प्रारंभ किया-"भगवान! मैं आपकी प्रतीज्ञ के सम्बन्ध में न तो कुछ कह सकता और न कर ही सकता। मैं तो केवल अपने सम्बन्ध से एक निवेदन करना चाहता था, यदि आज्ञा हो तो करूँ।"

आचार्य ने कहा-"हाँ, हाँ अवश्य कहो, तुम्हारी प्रत्येक बात न्याय, धर्म, भक्ति, श्रद्धा और विश्वास करने योग्य होगी अतः निसंकोच अपने विचार प्रकट करो। तुम्हारा विचार हमें भी मान्य होगा।"

सेवक जी ने कहा-"भगवान! मान्य होगी या नहीं होगी, इसे तो आप जाने। मेरा तो इतना ही निवेदन था कि सेवक के लिए स्वामी का भण्डार लुटाया जायगा क्या यह बात उचित है भक्ति के नाते? कृपया इस पर आप विचार करें तो उत्तम होगा।"

आचार्य ने कहा-"क्यों नहीं! स्वामी का सब कुछ सेवक के ही लिये तो है।"

सेवक ने आचार्य की बात को उलटते हुए से भाव में कहां-"है तो किन्तु.....।"

आचार्यपाद ने सेवक की बात को बीच में ही काटते हुए कहा-"किन्तु मेरी प्रतिज्ञा?"

"प्रतिज्ञा पुर्ण हो सकती है यदि सेवक की प्रार्थना स्वीकार कर ली जाय।" सेवक ने कहा।

सो कैसे? आचार्य ने पूछा।

"ऐसे कि राधावल्लभ लाल का वह भण्डार फिर चाहे उसमें अन्न, धन, वस्त्र, हीरे-जवाहरात, मोती, सोना-चांदी आदि ही क्यों न हो, यदि उनके उपभोग में आ चुका है तो अवश्य लुटा दिया जाय, इसमें आपकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो जायगी और जो सामग्री (धन, अन्न आदि) अभी तक उपभोग में नहीं आई है, अभी नवीन है, उत्सव आदि अवसरों के लिए संचित है, वह कदापि न लुटायी जाय, इससे इस सेवक का मनोभिलाषित हो जायगा।" इतना कहकर सेवक जी चुप हो गए। यह बात आचार्यपाद को उचित प्रतीत हुई। वे अपने सेवक की रुचि रखना चाहते थे। उन्होंने सेवक की बात को सहर्ष स्वीकार कर लिया और कहा-"सेवक! तुम सच ही धन्य हो। मैं तुम्हारी बुद्धि की बलैयाँ लूँ, तुमने मुझे आज अपने भावों से, दीनता से, विनय से और इष्ट-निष्ठा से बाँध लिया।"

इसके उपरांत समस्त प्रसादी भण्डार (अन्न, धन, वस्त्र, आभूषण आदि) साधू, अभ्यागत और दरिद्र-जनों को लुटा दिया गया। सेवक जी के आगमन की बात समस्त वृन्दावन में वासियों में बात की बात में फैल गयी। अनेक सन्त, महात्मा, रसिक, जिज्ञासु, गृहस्थी, नर-नारी सेवक जी के दर्शनों के लिए उमड़ पड़े। चारों ओर घर बाहर प्रत्येक मुख में सेवक जी की चर्चा थी। श्रीवन वासियों के आनन्द का पारावार न था। वे आज ऐसे मतवाले सेवक को पाकर मानो रसिकाचार्य हित हरिवंश चन्द्र के वियोग-जन्य अभाव को भूल गए थे।

इधर आचार्यपाद श्रीवनचन्द्र प्रभु के आनन्द का प्रवाह उमड़-उमड़ को मानो सब को अपने में डूबा लेना चाहता था। वे बड़े उत्साह से भण्डार के लुटाने, दीन दुखियों के प्रति दान करने और सेवक का प्रेम पूर्ण यश बखानने में व्यस्त थे।

संध्या का धूमिल प्रकाश दिशाओं के रोदन और अस्त प्रभात की सूचना दे रहा था। वायु का प्रवाह

था पर शिथिल और अन्य मनस्क। चन्द्रमा की शीतल किरणें भूतल पर आना चाहकर भी नहीं आ रही थीं; क्योंकि जानती थीं, कि हमें भावी-शोक-प्रवाह में निरादरित किया जायगा और कोई भी भद्र पुरुष ऐसे दारुण प्रसंगों को देखना नहीं चाहता तो फिर हम हीं क्यों देखें? यमुना का सुरम्य पुलिन भी अपनी पूर्ण शोभा का प्रकाश नहीं फैला रहा था, उसे भी तो भावी अन्धकार का ज्ञान था न।

नीरव प्रकृति की अलसायी छाया में, केवल एक सन्त-समुदाय रास-मंण्डल की गोद में अपनी छान रहा था। सेवक जी आज साकी बने थे और रास-मण्डल था मदिरालय, सन्तजन थे मय के दीर्घ पिपासु। कौन सी मय!प्रेम की सुरक्षा और कौन सी! प्याले पर प्याले ढाल रही थी वह साकी-बाला किन्तु वह पिपासु ही नहीं जो तृप्त हो जाय, तृषा बढ़ती जा रही थी खुमारी चढ़ती जा रही थी, कितने तो मदहोश भी हो चुके थे। प्रेम-मदिरा-पायी रसिकों का समुदाय झूम रहा था, फिर भी उनके अभ्यस्त कर बढ़ रहे थे घट की ओर। नेत्र और प्राण एक हो रहे थे साकी-बाला के चरणों में। विचित्र समाँ था।

इसी रास-मण्डल में एक और साकी-बाला(श्री हरिवंश) ने प्रेम-वारुणी पिलायी थी, तब भी ये ऐसे ही छके थे जैसे कि आज छके हैं। सबके मुख पर एक ही आवाज़ थी - साकी-बाला! मदिरा ला ला, आबाद रहे यह मय शाला!

जाने क्यों साकी बाला ने हाथ खिंच लिया, वो चुप हो गई। मानों मदिरालय का द्वार बंद करना चाहती है, वह खड़ी हो गईं। उसने बड़े नम्र भाव से सब पर अपनी एक प्रेम भरी दृष्टि डाली, और उसकी बड़ी-बड़ी भोली भाली आंखों से टप-टप दो मोती बरस पड़े। उसने एक बार झुककर सबको प्रणाम किया, उन मय के पुजारियों को। पुजारी पिपासु पागल हो रहे थे, वे अब भी न समझ पाये कि बाला जा रही है।

पाठकों! इस रास-मंण्डल को भूलिये नहीं। यह वही रास-मण्डल है, जहाँ कभी आचार्य चरण हरिवंशचन्द्र ने भी प्रेम-सुधा की वर्षा की थी और एक दिन शारदिय-पूर्णिमा को वे भी इसी नित्य स्थल में सदा के लिए अन्तर्धान हो गये थे। उनकी समाधि ही अब भक्तों के लिए उनका चिरस्मरण है।

सेवक जी जिन्हें हम साकी बाला कह रहे हैं, अपनी उसी भावविभोर अवस्था में उठ खड़े हुए और मन्द मन्द गति से चलकर समाधि के निकट आ खड़े हुए। वे कुछ क्षणों तक किसी अलक्ष्य वस्तु का अपनी दृष्टि के द्वारा भेदन करते रहे, उनके अधर-पल्लव एक बार काँप कर फिर शान्त हो गये। समाधि को प्रणाम करके वे निकट के ही वट की चरण-तटी में आ खड़े हो गये। भक्तों का महान् समुदाय उनके समीप था। सब देख रहे थे, उनकी इस विलक्षण क्रिया को, किन्तु किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि यह सब क्यों और क्या होने जा रहा है? सेवक के मुख से परम आकर्षक स्वर में एक शब्द निकला *'हा हरिवंश!'* उनकी दोनों भुज लताएँ विशाल वटवृक्ष के दीर्घकाय को अपने में बाँध लेने के लिए बढ़ीं और उन्होंने एक ही क्षण में अपने शरीर को उस विशाल वट में लीन कर दिया। भक्तों में हा-हाकार मच उठा। प्रेमीगण *"हा सेवक! हा सेवक!!"* कहकर चीख पड़े। कितने तो मूर्च्छित होकर धड़ाम-धड़ाम पृथ्वी पर गिर पड़े। कितने तो रोते और चिल्लाते हुए यही कह रहे थे- **"हे श्रीकृष्ण! हे श्री राधे! यह क्या हुआ? दयामय! यह तुम्हारी कौन सी लीला है? क्या इतने शीघ्र ही हमारे सेवक को हमसे छुड़ा लेना था? हाय रे हाय! हमारा तो सर्वस्व छिन गया। हम अनाथ हो गये। विधी! तूने सुख दिखाकर यह दुःख क्यों दिया? अब हम किसके लिए अपना जीवन रखें? सेवक! सेवक!! तुम भी श्री हरिवंश की तरह ठग निकले। अरे ओ ठग! तुम तो हमारा सर्वस्व लूट कर ले गये, तुम बड़े निर्दय हो। तुम्हें हमारे ऊपर दया भी न आयी? अरे कठोर! हम पर तुम्हें तरह भी न आया?"**

इस प्रकार कितने ही समय तक वहाँ करुण रस का साम्राज्य छाया रहा, पश्चात भक्तों ने 'हरिरीच्छा बलीयसी' जानकर सन्तोष किया। करते भी क्या? सन्तोष करने के अतिरिक्त उनके पास दूसरा कोई चारा नहीं था।

सेवक जी अपने नित्य परिकर में जा मिले। उन्होंने अपना दिव्य एवं नित्य रुप प्राप्त कर लिया। वे एक महापुरुष थे अपना कार्य करने आए थे। कार्य पूरा करके चले गए। इन महापुरुषों का कौन तो अपना और कौन पराया? सत्य है--

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।

महापुरुष चेतांसि कोऽपि विज्ञातुमीश्वरः॥

अर्थात "इन महापुरुषों का चित्त बज्र से तो अधिक कठोर और फूल से अधिक कोमल होता है। भला, इसे जानने समझने में कौन समर्थ हो सकता है?"

अस्तु, जो हुआ, हो गया; उसकी क्या मीमांसा! अब तो सेवक की पावन स्मृति के दो ही स्मारक शेष हैं, एक तो सहस्त्रों को आश्रय देने वाले विशाल वट की सुशीतल छाया और अनन्त जन पावनकारी, प्रेम रस लीन प्रेम प्रदायिका वाणी। और यही दोनों अब उनके प्रेमियों के आश्रय हैं।

|| श्रीसेवक जी महाराज की जय हो ||

|| जय जय राधावल्लभ श्रीहरिवंश ||